मंगलवार, 4 अप्रैल 2017

लोकमत समाचार

शोध की संस्कृति में बदलाव हो

गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
misragirishwar@gmail.com

केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने शोध कार्य के लिए संसाधनों को उदारता से उपलब्ध कराने की बात कही है. उच्च शिक्षा में शोध के वर्तमान संदर्भ में यह एक शुभ सूचना है. शिक्षा नीति में इसका ध्यान रखा जाना चाहिए और आवश्यकतानुसार संसाधनों की व्यवस्था की जानी चाहिए. आज के जमाने में किसी रूढ़ि या निजी विश्वास की जगह व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से किए गए शोध को तरजीह दी जाती है. वैज्ञानिक ज्ञान अधिक प्रतिष्ठित होता है क्योंकि वह विश्वसनीय और वैध होने के कारण ज्यादा भरोसेमंद होता है. आज विकसित राष्ट्रों के आर्थिक और तकनीकी विकास के पीछे उनके शोध का पुष्ट आधार देखा जा सकता है.

भारत में भी शोध कार्य को बढ़ावा देने के लिए कई जतन किए जाते रहे हैं पर आज भी भारत में हो रहे शोध की न केवल मात्रा बल्कि उसकी गुणवत्ता को लेकर हम अन्य देशों की तुलना में काफी पिछड़े हुए हैं. कहना न होगा कि आधुनिक भारत में शोध की परंपरा औपनिवेशिक काल में स्थापित विश्वविद्यालयों और संस्थानों में शुरू हुई जो कमोबेश अविच्छिन्न रूप से अभी भी उसी ढर्रे पर चल रही है. कभी-कभी शोध की वरीयताओं को लेकर सोच-विचार जरूर किया गया है और कुछ बदलाव भी आए हैं. पर शोध की संस्कृति ज्यादातर अध्ययन केंद्रों पर अपनी पुरानी लीक पर ही चलती चली जा रही है. थोड़े से ऐसे उच्च अध्ययन केंद्र, जो 'उत्कृष्टता के द्वीप' कहे जा सकते हैं, अपवादस्वरूप जरूर मिल जाएंगे परंतु अधिकांश शिक्षा केंद्रों पर शोध एक पिटी-पिटाई कवायद की तरह होता गया है जिसमें एक क्रम में कुछ कृत्य (रिचुअल) पूरे किए जाते हैं और पीएचडी और डी लिट की उपाधियां दी जाती हैं. शोध कार्यों में दुहराव एक बड़ी समस्या होती गई है और अन्य कारणों से शोध में नकल और चोरी भी होने लगी है.

उच्च शिक्षा के तीव्र विस्तार के साथ विश्वविद्यालय और महाविद्यालय तो अंधाधुंध खुलते गए पर हर एक के लिए आवश्यक शोध संसाधन जुटाना टेढ़ी खीर साबित हो रही है. हां, शोध जरूर हो रहा है पर गुणवत्ता के मानकों के साथ तमाम समझौतों के साथ. उच्च शिक्षा और उससे जुड़े व्यवसायों में शोध कार्य या पीएचडी की डिग्री की जरूरत पड़ती है. उसका बड़ा मूल्य है क्योंकि उसके बिना व्यावसायिक उन्नति का द्वार नहीं खुलता है. फलतः शोध करना मजबूरी हो जाती है . इच्छा या अनिच्छा किसी भी तरह शोध की ऊंची डिग्री हासिल करना स्नातकोत्तर डिग्री धारकों की विवशता होती जा रही है. ऐसे में ज्यादातर शोध ग्रंथ मानकों पर खरे नहीं उतरते और मैत्री, दया भाव या फिर किसी अन्य कारण से डिग्री दे दी जाती है. ये शोध कार्य स्वयं छात्र के लिए भी अधिक मूल्य नहीं रखते. उन शोध कार्यों से पहले से प्राप्त ज्ञान में वृद्धि या नए ज्ञान की आशा करना दुराशा ही सिद्ध होता है.

वस्तुतः आज शोध का भारतीय संदर्भ जटिल होता जा रहा है और उसकी उपादेयता और गुणवत्ता को लेकर उच्च शिक्षा के लाभार्थियों में काफी असंतोष सा व्याप्त होता दिख रहा है. प्राकृतिक और जीव विज्ञान की स्थिति थोड़ी बेहतर है और उनमें ज्ञान के अंतरराष्ट्रीय मानकों की अनदेखी नहीं की जाती. पर जैसा कि भारत में सामाजिक शोध को लेकर भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद की ताजा रिपोर्ट बताती है, समाज विज्ञानों की स्थिति चिंतनीय है. संस्कृति से बाहर से आयातित अवधारणाएं और सिद्धांतों को थोपने की जगह अवधारणाओं और सिद्धांतों को संस्कृति में ढूंढने की कोशिश अधिक महत्वपूर्ण है. साथ ही अब संस्कृति-विशिष्ट अध्ययन विधियों की जरूरत भी महसूस की जा रही है. ज्ञान को उसके संदर्भ में प्रासंगिक बनाना जरूरी है. शायद विधियों की सीमाएं तोड़ कर ही ज्ञान-विज्ञान के विकास की संभावना बन पाती है. सामाजिक विज्ञानों में शोध का प्रजातांत्रिक रूप यह अपेक्षा करता है कि उसमें लोक की प्रतिष्ठा हो. आम आदमी जिन विचारों और सिद्धांतों को अपना कर जीवन चलाते हैं उन्हें समझा जाना चाहिए. वे सिर्फ सूचना की उगाही के माध्यम न होकर ज्ञान के भी स्रोत हैं.